

ॐ

यज्ञ का भावार्थ



स्वामी रामतीर्थ
(1873-1906)

प्रकाशक

रामतीर्थ प्रतिष्ठान

१४—मारवाड़ी गली

लखनऊ-१८

प्रकाशक के दो शब्द

यज्ञ की परम्परा हमारे समाज तथा देश में उतनी प्राचीन है जितना कि हमारा वैदिक धर्म, परन्तु यज्ञ के सम्बंध में कालान्तर में अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैल गईं। वेदान्तमूर्ति स्वामी रामतीर्थ जी के इस व्याख्यान में यज्ञ का भावार्थ, उसका स्वरूप तथा उसके प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की जो सरल तथा स्पष्ट व्याख्या की गई है बहुत ही महत्त्व पूर्ण तथा समयानुकूल है।

आशा है जनसाधारण 'राम' की इस अमूल्य वार्ता को ध्यान से पढ़ेंगे और उनकी बताई हुई अध्यात्मिक साधना को जीवन में अपनाकर समाज तथा देश का गौरव बढ़ायेंगे।

लखनऊ

अगस्त, १९८२

विनीत

रामकृष्ण लाल

सं० मंत्री

रामतीर्थ प्रतिष्ठान

यज्ञ का भावार्थ

जिस समय ब्रह्मा की पवित्र यज्ञ-भूमि पुष्कर में राम का निवास था, उस समय उसे एक पत्र मिला । उसमें यह पूछा गया था कि राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए पुरातन यज्ञादि विधि का पुनरुद्धार करने के विषय में राम का क्या मत है । उस पत्र के उत्तर में निम्नलिखित पंक्तियाँ वह निकली थीं:—

The highest virtue has no name.

The greatest pureness seems but shame.

True wisdom seems the least secure.

Inherent goodness seems most strange.

What most endures is Changeless Change.

The loudest voice was never heard.

The biggest thing no form doth take.

सर्वोत्तम गुण का नाम नहीं ।

सर्वोत्तम पवित्रता लज्जा मात्र प्रतीत होती है ।

सच्ची बुद्धिमत्ता निशंक नहीं बना पाती ।

स्वाभाविक श्रेष्ठता अति अस्वाभाविक जान पड़ती है ।

अपरिवर्तन शील परिवर्तन अत्यन्त स्थायी होता है ।

अत्यन्त ऊँचा शब्द कभी सुना नहीं जाता ।

अत्यन्त विशाल वस्तु कोई रूप धारण नहीं करती ।

यदि सूर्य वम्बई के आस्र वृक्षों से कहने लगे मैंने अपना जो प्रकाश और ऊष्णता हिमालय के भोजपत्र और देवदार के वृक्षों को प्रदान की है, वह मैं तुम्हें नहीं दूंगा । तुम्हें चाहिए कि तुम मेरे द्वारा इन्हीं सुन्दर पर्वतों की प्रदत्त शक्ति और अनुकम्पा के प्रादुर्भाव पर ही फलो-फूलो और बढ़ते रहो, तब तो वे आस्र वृक्ष थोड़े ही काल ।

में अन्तर्ध्यान हो जायेंगे । न तो वाटिका के सेबों पर प्रकाशित सूर्य के तेज से खेतों के फूल जीवित रह सकते हैं, और न बुद्ध भगवान्, ईसामसीह अथवा महोम्मद के अनुभव से शेक्सपीयर, न्यूटन या स्पेन्सर को शान्ति मिल सकती है । इसलिए हमें अपने प्रश्न स्वयं हल करने होंगे, और पुरातन काल के सम्माननीय ऋषियों और दार्शनिकों की आंखों से देखने की अपेक्षा सारी बातों को स्वयं अपनी आंखों से देखना प्रारम्भ करना चाहिए ।

प्रत्येक स्मृति में स्पष्ट प्रश्न है “पूर्व काल में हम लोग इस बात पर एक मत हुए थे, आइये, विचारें—आज उस विषय में हमारा क्या मत हो सकता है” ? प्रत्येक संस्था सिक्का जैसी होती है, जो मोहरछाप लगाने से चलती है । कुछ काल चलने के बाद उस सिक्के के अंक मिट जाते हैं और वह पहचाना नहीं जाता, इसलिए पुनः टकसाल में भेजा जाता है । प्रकृति को इस बात में आनन्द आता है कि वह अपने नगों (संसार के पदार्थों) को सजाती-विगाड़ती और फिर-फिर नया आकार देती है । परिवर्तनहीन परिवर्तन ही जीवन की एक मात्र शर्त है, उसके बिना जीवन आगे नहीं बढ़ता ।

कोई दया के योग्य नहीं है । दया के योग्य केवल वही है, जिसका भविष्य उसके पीछे और भूतकाल सदा उसके आगे रहता है । निम्न-लिखित विवेचना की प्रत्येक बात गोता, मनुस्मृति और श्रुति के प्रमाणों से पुष्ट की जा सकती है, परन्तु जान-बूझकर ऐसा नहीं किया जा रहा है, क्योंकि ऐसा करने से अन्यान्य विषय छिड़ जायेंगे और मुख्य बात पीछे रह जायगी । विपक्षी प्रमाण देने लगेंगे और शब्दों की सूखी हड्डियों में हम उलझ जाएंगे । दूसरे शब्दों में वितण्डा-वाद खड़ा हो जायगा । इसके सिवा, इस शिक्षा की उस हानिकारक पद्धति को बढ़ावा देने का पाप भोगना पड़ेगा, जो तथ्य या वस्तु-

स्थिति के अध्ययन की अपेक्षा, केवल ग्रन्थ के अध्ययन को अधिक महत्त्व देती है।

महान् शंकराचार्य से एक बड़ी भारी भूल यह हुई कि उन्होंने अपने अनुभव को प्रमाणों के आवरण से ढक दिया। जो सत्य उन्हें स्वानुभव से प्राप्त हुआ था, उसे उन्होंने प्राचीन प्रमाणों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने के प्रयत्न में अपना समय व्यर्थ नष्ट किया। क्या स्वानुभव से अधिक विश्वसनीय कोई अन्य प्रमाण भी हो सकता है? उनके पश्चात् जो दूसरे आये (रामानुज, माधव इत्यादि), उन्होंने भी उन्हीं प्राणहीन शब्दों को दोहराया, और उन्हीं मूल ग्रन्थों से जबरदस्ती अपने मानमाने अर्थ निकालने का प्रयत्न किया। इस सद्विच्छा-पूर्ण प्रयत्न से, सत्य की गति तीव्र होने के बदले, उल्टी रुक गई। स्पष्ट शब्दों में, भारत के वर्तमान दुःखों का कारण, प्राकृतिक क्रम को पलट देना है। हमने अपनी चैतन्य आत्मा को प्राचीन ग्रन्थों के भूतों का गुलाम बना दिया है। श्रुति भगवती की ऐसी शोचनीय दुर्दशा हो गई है कि, एक पुत्र उसके केशों को एक तरफ खींचता है, दूसरा दूसरी तरफ, तीसरा तीसरी ओर और चौथा चौथी ओर— इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य श्रुति के नाम से अपने मनमाने मत का प्रचार करना चाहता है और, इस सबका परिणाम यह होता है, कि वास्तविकता कलुषित हो जाती है। ऐ प्राचीन भारत के ऋषियों और आचार्यों ! देखो तो तुम्हारे वंशज किस अधोगति को पहुँच रहे हैं। वे अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं और नवीनतम वस्तु-स्थिति के प्रश्नों को उस भाषा के व्याकरण के नियमों से तय करना चाहते हैं, जिसका बोलना न जाने कब से बन्द हो गया है !

प्यारो ! नियम और संस्थाएँ मनुष्य के लिए हैं—मनुष्य नियमों और संस्थाओं के लिए नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि

भाष्यों के द्वारा, भविष्य भूतकाल से बंधा हुआ है। यह विचार देखने में कितना अच्छा लगता है और उत्तम रीति से भी वर्णन किया गया है ! परन्तु क्या हमने अपने पुराने गुदड़ों में पहले ही से बहुत से पैबन्द नहीं लगा रखे हैं ? सत्य को समझौता करने की आवश्यकता नहीं, वह झुक नहीं सकता। पृथ्वी दिन-रात सूर्य की परिक्रमा करे, परन्तु सूर्य को पृथ्वी की परिक्रमा करने की आवश्यकता नहीं। भूत और भविष्य का मेल जोल बनाये रखने के अभिप्राय से, विज्ञान के आधुनिक अविष्कार, क्या ईसाईयों की वाइबल या दूसरे ऐसे ही ग्रन्थों (जैसे भाष्यादि) के साथ मेल खा सकते हैं ? ईश्वरप्रणीत धर्म-ग्रन्थों को स्वयं बोलने दो। ईश्वर में इतनी सज्जनता तो अवश्य होनी चाहिए, कि वह अपने वचनों को अनेक अर्थों वाला न बनाये। वह ऐसा क्यों करे कि संसार के लोग सहस्रों वर्ष तक एक भूल से दूसरी भूल में गोते खाते रहें, और, जब तक कि कोई स्वयंभू ईश्वरदूत या टीकाकार आकर उनके अर्थ न बतावे, तब तक वह उसके असली अर्थ समझें ही नहीं। ऐसे टीकाकार अथवा स्वयंभू ईश्वरदूत पक्षपात-रहित न्यायाधीश होने का दावा तो करते हैं, परन्तु वह वकीलों की धूर्ततापूर्ण कुटिलता का सा व्यवहार करते हैं। क्या प्रमाणों से सत्य की स्थापना हो सकती है ? क्या सूर्य दिखाने के लिए छोटे से दीपक की आवश्यकता होती है ? क्या गणित-शास्त्र के किसी सरल से सरल सिद्धान्त की कोई अधिक पुष्टि हो जाती है, यदि ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, जरदुश्त अथवा वेद उसकी साक्षी देने लगे ? रसायनशास्त्र के तत्वों का ज्ञान हमको प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा मालूम होता है। इनका कोरे विश्वास के आधार पर मस्तिष्क में भर लेना तो, मानों बुद्धि को कुचलने का पाप, अपने सिर मोल लेना है। किसी घटना विशेष को और त्रिकालाबाधित सत् को—तीनों कालों में एक समान रहने-

बाले सत्य को—एक मत समझो। यह दोनों अलग-अलग हैं। किसी विशेष घटना को हम दूसरे के प्रमाण से मान सकते हैं, परन्तु सत्य स्वतः अनुभव से मालूम होता है। क्या वेदान्त को वाद-विवाद और प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता है? क्यों हो? वेदान्त के सिद्धान्त का उचित प्रतिपादन ही उसका अखंडनीय प्रमाण है। सौन्दर्य के आकर्षण के लिए, किसी बाहरी सिफारिश की आवश्यकता नहीं होती।

मनमोहक मधुर गान गाकर, मीठी-मीठी लोरियां गा-गाकर, तमोगुणी निद्रा बनाये रखना, जनसमूह के दिल को खुश करना, अथवा, अज्ञान की लल्लोपत्तो करके, अगणित अनुयायियों की भीड़ जमा कर लेना, कोई कठिन काम नहीं है। सत्य ही एक चिरस्थायी सत्ता है, और, जितने भी चराचर पदार्थ हैं, वे सब मिथ्या (परिवर्तनशील) हैं। धिक्कार है उसे, जो दिखावटी रूपों पर सत्य को न्योछावर कर देता है। सत्य को स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार विकसित होने दो। सत्यस्वरूप सूर्य को यह भली भांति विदित है कि उसे किस प्रकार उदय होना चाहिए। घोर निद्रा में सोये हुए लोगों को हिला-हिलाकर जगाने के लिए, सत्य अपने ज्ञान-रूपी अग्निवाणों के आलापों से घनघोर गर्जना करता है—मैं सत्य हूं, मैं देह (रूप) की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आत्मघात करने को कदापि तैयार नहीं हो सकता।

अब यज्ञ के विषय में हम स्वतन्त्रतापूर्वक और पक्षपातरहित होकर उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करेंगे।

जैसा कि साधारण रीति से समझा जाता है, हवन, यज्ञ का एक मुख्य और आवश्यक अंग है। सबसे प्रसिद्ध तर्क, जो इसके वर्तमान अनुयायियों की जिह्वा पर रहता है, वह यह है कि हवन से वायु शुद्ध होती है। उससे सुगन्धमय वातावरण पैदा होता है। यह एक बड़ी दूर की कल्पना है। अन्य उत्तजक पदार्थों की भांति, अथवा शरीर

क्रिया विज्ञान (Physiology) के अनुसार यह सुगन्ध, सूंघने में अच्छी मालूम होने पर भी, केवल क्षण भर के लिए चित्त को प्रसन्न करती है, परन्तु बाद में जो इसकी प्रतिक्रिया होती है, उससे स्फूर्ति और भी मन्द हो जाती है। उत्तेजक पदार्थ हमारी शक्ति भण्डार से कुछ शक्ति उधार ले लिया करते हैं, परन्तु वह ऋण चक्रवृद्धि व्याज की दर पर उधार मिलता है और ऋण चुकाने की कभी नौबत ही नहीं आ पाती।

परन्तु सुगन्ध तो हवन का एक अति अल्प अंश है। उसके द्वारा सबसे अधिक तो कार्बन डाइआक्साइड ही निकलता है, जो वस्तुतः बड़ा हानिकारक होता है।

एक समय ऐसा था, जब कि भारतवर्ष में मनुष्य-जनपदों की अपेक्षा जंगल अधिक थे। उन दिनों संभव है—धी एवम् अन्य पिण्डमय पदार्थों (Hydro carbonates) के जलाने से वनस्पतियों के उगने में कुछ थोड़ी बहुत, नगण्य सी, सहायता मिलती रही हो, क्योंकि इससे कार्बन-डाई-आक्साइड (वृक्षों का आहार) पैदा होता है। परन्तु आजकल स्थिति विलकुल उल्टी है। एक तो अब यहां वे जंगल नहीं रहे और दूसरे, जन-संख्या की भी निःसीम वृद्धि के फलस्वरूप, वायु में कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक बढ़ गया है, जिससे लोग आलसी बन गये हैं। इन दिनों भारतवर्ष को प्राणवायु (Oxygen) और तीव्र प्राण-वायु (Ozone) की विशेष आवश्यकता है, न कि कार्बन डाई-आक्साइड की।

यह बात याद रखना चाहिए कि अग्नि में हवन करने और लोगों को भोजन कराने का एक ही सा रासायनिक परिणाम होता है। अतः अमृत्यु घृत को कृत्रिम अग्नि के मुंह में झोंकने के बदले सूखी रोटी के टुकड़े उस जठराग्नि में क्यों नहीं डाल जाय, जो लाखों

भूखे, परन्तु साक्षात् नारायण स्वरूप, गरीब लोगों के अस्थि-मांस को खाये जा रही है ? सचमुच उसी हवन की आजकल भारत में विशेष आवश्यकता है ।

फिर जरा सोचिये, यदि आपने एक दिन हजार, दो हजार आदमियों को भोजन करा भी दिया, तो इससे लाभ क्या होगा ? यह बिना विचारे दान करने की प्रथा तो केवल भले मानस भिखारियों की ही संख्या बढ़ाती है । यह इतना सारा दुःख, भारतवर्ष में क्यों है ? बिना सोचे-विचारे, दान देने की प्रथा से, पात्र-कुपात्र का विचार किये बिना, दान करना ही भारतवर्ष की दरिद्रता का एक मूल कारण है । एक फ्रेंच ग्रन्थकार का कथन है कि दान, जितना दुःख दूर करता है, उससे आधा दुःख उत्पन्न भी कर देता है । और, जिस नवीन दुःख को वह पैदा करता है, उसके अर्द्ध भाग को भी वह निवारण नहीं कर सकता । दान का निर्णय, उसके परिणाम से करना चाहिए, न कि दाता की मंशा से । वह दुर्बलचित्त यात्री, जो किसी ज़िद्दी और आलसी भिखारी को एक-आध पैसा दे देता है, भले ही अपने मन में वह सोच ले कि, उसने परलोक में अपने जीव की रक्षा के लिए कुछ पुण्य कमाया है—यह बात ठीक हो या न हो, परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि, उसने इस लोक में अपने राष्ट्र की हानि में अवश्य ही कुछ न कुछ सहायता की है ।

हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि हमें ठीक तरह का यज्ञ करना चाहिए—अर्थात् दीन और अनाथ लोगों की सेवा और रक्षा इस रीति से करना चाहिए कि हमारे मूल उद्देश्य का नाश न हो । ऐसी परिस्थिति में, जो सबसे बड़ा दान आप किसी को दे सकते हैं, वह है केवल विद्या-दान । आज आप किसी मनुष्य को भोजन करा दीजिए, कल फिर उसे वैसे ही भुखा लगेगी । परन्तु यदि इसके बदले, आपने

उसे कोई धन्धा सिखा दिया, तो आप उसे जन्म भर रोटी कमाने के योग्य बना देंगे। हां, जो विद्या उसे सिखाई जाय, वह ऐसी हो कि उससे उस मनुष्य का जीवन वास्तविक रूप से सार्थक हो जाय। जैसे, अन्य ऊटपटांग कामों से, आजकल जूता बनाने का काम सीख लेना भी अति उत्तम हो सकता है।

जो लोग तुमसे धन, ज्ञान, शक्ति अथवा पद में छोटे हों, उनके साथ तुम्हें वैसी ही सहानुभूति प्रकट करना चाहिए और उनकी वैसी ही सहायता करनी चाहिए, जैसी तुम अपने वच्चों की करते हो। बस, प्रतिफल की आशा को हृदय से निकालकर, मातृपद के इस परम सुख को भोगो। माता का पद बड़ा गौरवशाली है। उसमें स्थित हो। सबको आध्यात्मिक भोजन दो। उत्साह, ज्ञान और भक्ति से अपने वच्चों की सेवा करो—यही सबसे बड़ा निष्काम यज्ञ है।

किसी अन्य अवसर पर हम भारतवर्ष के कर्मकांड के इतिहास की विस्तृत चर्चा करेंगे। भारतवर्ष में, प्राचीन समय में, जबकि समाज आजकल की तरह बनावटी नहीं था, खान-पान, वस्त्रा-भूषण, घरद्वार, रीति-भाँति की ओर लोगों का इतना ध्यान न था और, वर्तमान कश्मीर के कुछ भागों के तरह, फल-फूल के वृक्षों की सर्वत्र अधिकता थी, जब अमेरिका के वर्तमान मूल निवासियों की भाँति, भारतवर्ष के लोगों को अनावश्यक कपड़े की विशेष आवश्यकता न थी, जबकि छायादार वृक्ष और पहाड़ों की गुफायें लोगों को घर का काम देती थीं; उस समय लोगों की मानसिक और शारीरिक संचित शक्ति के निकास के लिए, कोई दूसरा मार्ग न होने के कारण, वह शक्ति देवताओं से संपर्क करने की ओर झुकी, अर्थात् हर प्रकार के यज्ञ होने लगे। मूलतः ये सारे यज्ञ देवताओं से ठीकठीक और सच्चे व्यवहार के प्रतीक मात्र थे। उनमें याचना, खुशामद, अपने को तुच्छ

समझना, दास-वृत्ति और 'भिक्षां देहि' की नियत नाम मात्र को भी न थी। हमारे पूर्वजों ने, अपनी समझ के अनुसार, दैवी शक्तियों से, बराबरी के नाते, यज्ञों के रूप में व्यवहार किया था। यदि उन यज्ञों को पंच महाभूतों के देवताओं के साथ आदान-प्रदान का साधन कहा जाय, तो अयुक्त न होगा। उनमें आजकल का सा स्वार्थमय व्यापारी ढंग विलकुल न था। थी उनमें केवल पारस्परिक लेन-देन की शुद्ध भावना और सच्ची वणिक् वृत्ति।

ये सारे यज्ञ एक 'यदि' पर अवलम्बित थे ! यदि तुम्हें वृष्टि इष्ट है तो, अमुक यज्ञ करो, यदि तुम्हें सन्तान चाहिए तो अमुक यज्ञ करो, यदि तुम्हें जय लाभ करना है तो दूसरे प्रकार का यज्ञ करो और यदि तुम्हें धन चाहिए तो तीसरे प्रकार का यज्ञ करो, इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रकार, 'यदि' से संबंधित ये यज्ञ, हमारी इच्छाओं से बंधे होने के कारण, केवल (सभी कर्तव्यों की भांति) ऐच्छिक थे। प्रारम्भ में वे अनिवार्य न थे, धीरे-धीरे वे रूढ़ हो गये और उन्होंने लोचकार का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार स्वयं ही हमने उनको, कर्तव्य रूप से, अपने सिर चढ़ा लिया।

आगे चलकर, भारतवर्ष के इतिहास में हम देखते हैं, कि यज्ञों का स्थान पौराणिक कर्मकांड ने ले लिया था। हम यह भी देखते हैं कि महाभारत के गृह युद्ध ने, देश में व्यापक हेर-फेर पैदा कर दिया था। धार्मिक और राजकीय क्रान्तियों से राष्ट्र की सम्पूर्ण व्यवस्था ही अस्तव्यस्त हो गई। प्राचीन देवताओं के प्रति हमारी भावना बिलकुल बदल गई। दैनिक आवश्यकतायें बढ़ गईं, लोगों के पास इतना अत्यधिक समय भी न रहा कि एक एक यज्ञ करने में महीनों और वर्षों लगा दें ! अतः, प्राचीन यज्ञ के स्थान में, पौराणिक कर्म-

कांड आ गया है। इसके द्वारा हमें एक ऐसी परम्परा मिलती है कि, हम अपने धर्म को तनिक भी हानि पहुंचाये बिना, समय की आवश्यकतानुसार, अपने कर्मकांड में आवश्यकीय परिवर्तन कर सकते हैं।

राम यह कहे बिना नहीं रह सकता कि स्मृति, रीति-रिवाज, आचार-विचार, विधि, संस्कार (अर्थात् सम्पूर्ण कर्मकांड) समयानुसार केवल बदलते ही नहीं रहे हैं, परन्तु एक ही देश के विभिन्न भागों में, विभिन्न रूप में चलते रहे हैं। किसी समाज का स्वास्थ्य उसके निरंतर और उचित परिवर्तन पर निर्भर करता है। 'बदलो या मरो,' प्रकृति का यह एक अटल सिद्धान्त है।

आधुनिक विकासवाद के क्षेत्र में एक सुप्रसिद्ध विद्वान्, प्रेसीडेन्ट डाक्टर डेविड स्टार जोर्डन, सामाजिक विकास के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए, हमें स्मरण दिलाता है कि, समाज की पूर्ण से पूर्ण अवस्था भी हमें सदैव अपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि अत्युन्नत समाज, प्रगतिशील होता है। जो समाज स्थित्यात्मक होता है, उसकी वाढ़ रुक जाती है, जैसे अत्यन्त उन्नत सजीव पिण्ड बहुत ही अपूर्ण प्रतीत होता है। स्थिति के साथ पूर्णतया मेल बनाये रखने के लिए, हमको हमेशा परिवर्तन करना ही पड़ता है, क्योंकि स्थिति सदैव बदला ही करती है। ऐसा स्थित्यात्मक मनोराज्य, जो लगातार युग युगान्तरों तक बना रहे, जिस में संघर्ष और परिवर्तन का लेश मात्र न हो, जिसमें सब लोग सुखी और सुरक्षित रहें, हमारे समझ में तो उसकी कहीं कोई आशा दिखाई नहीं पड़ती।

इसलिए अपनी परिस्थिति के अनुसार, हमें अपना कर्मकांड अवश्य बदलना चाहिए। वैदिक काल के ऋषियों की आवश्यकताओं से हमारी आवश्यकतायें बिलकुल भिन्न हैं। वे सब "यदियां" जिन

पर सम्पूर्ण कर्मकांड अवलम्बित है, बिलकुल बदल गई हैं। आजकल हमारे सामने यह प्रश्न नहीं है कि यदि तुम्हें गाय-भैंसों की जरूरत है तो इन्द्र देव को हव्य भेंट करो" अथवा "तुम्हें अधिक सन्तान की आवश्यकता है तो प्रजापति को प्रसन्न करो" आदि-आदि। परन्तु आजकल के कर्मकांड की समस्या ने निम्न स्वरूप धारण किया है "कि यदि तुम उद्योग-धन्धों और कला कौशल में नित्य-प्रति वृद्धि करनेवाली वर्तमान शताब्दी में जीवित रहना चाहते हो, यदि तुम्हारी यह इच्छा नहीं है कि तुम राजनैतिक यक्ष्मा से पीड़ित होकर घुल-घुलकर मर जाओ, तो विद्युतरूपी मातरिश्वा पर अपना अधिकार जमा लो, भापरूपी वरुण को अपना दास बना लो, कृषि शास्त्ररूपी कुबेर से परिचय बढ़ाओ। इन देवताओं से तुम्हारा परिचय कराने वाले वे वैज्ञानिक और कलाविद् पुरोहित होंगे, जो इन विद्याओं को पढ़ाते हैं।

धर्मशून्य भाषा के प्रयोग का अपराध राम पर न लगाना। यहां हर एक वस्तु परिवर्तनशील है। देश का स्वरूप प्रायः बिलकुल बदल गया है, राजसत्ता बदल गई है, भाषा बदल गई है, लोगों का रंग (वर्ण) भी बदल गया है, तब फिर आपके देवता ही क्यों स्वर्ग में बैठे-बैठे अपने पालने में झूला करें, समय के साथ वे भी क्यों न बढ़ते रहें? क्यों न वे ही नीचे उतरकर हम लोगों के साथ स्वतन्त्रता से मिलें-जुलें, ताकि सभी लोग उन्हें भली-भांति जान जायें?

प्यारे महाभाग देश बान्धवो ! राम यह तो कदापि नहीं कह सकता कि तुम सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, विद्युत्, मेघ, वरुण आदि में "एकं सत्" ईश्वर के दर्शन न करो, जैसा कि प्राचीन आदरणीय ऋषियों ने किया था। वरन् उसका कहना तो यह है कि तुम प्रकृति में ईश्वर को, प्रकृति रूप से, अवश्य देखो। परन्तु जरा

अपनी दृष्टि और भी फैलाओ, और रासायनिक प्रयोग शाला और विज्ञान भवन (Science Laboratories) में भी ईश्वर के दर्शन करो। रासायनिक की मेज भी तुम्हें यज्ञ की अग्नि के समान पवित्र प्रतीत होनी चाहिये। पुरातन होमाग्नि को अथवा यज्ञ की अग्नि को तुम पुनर्जीवित नहीं कर सकते, परन्तु उस पुरातन काल के प्रेम, आदर और भक्ति का पुनरुद्धार तो तुम कर ही सकते हो और तुम्हें अवश्य करना भी चाहिए। दूसरे शब्दों में अपने वर्तमान कामों में इन्हीं उच्च भावनाओं का प्रयोग करो, जिनका करना समय की आवश्यकता-नुसार तुम्हारा कर्तव्य है। विद्वान् आगेसिज प्रश्न करता है कि क्या प्रकृति का अध्ययन करना ईश्वर के विचारों को फिर से दुहराना नहीं है ? ऐसा करो कि तुम्हारे सब कामों में पवित्रता और शुचिता का भाव भर जाय। यदि राम यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सकता, तो वह लुहार की भट्टी की अग्नि को यज्ञाग्नि के सदृश पवित्र और लाभकारी बनाएगा। प्यारे ! यह तो तुम्हारी सर्वमय राम-दृष्टि पर निर्भर है, कि तुम किसान की कुदाली को इन्द्र का रथ बना लो। इसी वृह्म अथवा आत्म दृष्टि का प्राप्त करना ही सच्चे यज्ञ का मुख्य मन्तव्य है।

अपनी वर्तमान राष्ट्रीय स्थिति का अनुभव न करके, तुम अपनी भावी जीवन या भावी आत्मा को बिलकुल भुलाये दे रहे हो। ऐसे भयंकर नास्तिक मत बनो। अपने जीवन काल में तुम्हारा मुख्य कर्तव्य अपने भविष्य-जीवन के सुधारने और उसके लाभ के लिए होना चाहिए। इसलिए इस तरह जीवन व्यतीत करो कि तुम्हारा आदर्शमय जीवन, अर्थात्, तुम्हें जैसा होना चाहिए, वैसा प्रत्यक्ष रूप से बन जाना तुम्हारे लिए सुलभ हो जाय। इस तरह से जीवन व्यतीत करो कि पचास वर्ष के पश्चात् भी तुम्हें स्वयं अपने ऊपर लज्जा

उत्पन्न न हो । इस ढंग से रहो कि भारतवर्ष की भावी सन्तानों को तुम्हारे आज के कार्यों से दुखी और निराश न होना पड़े ।

हे रूढ़िवादी हिन्दुओं ! अपने अन्तःकरण को गुलामी से मुक्त करो । कर्मकांड के दो-दो स्वामियों की सेवा अपेक्षित नहीं । जिन वस्त्रों की तुम्हें सचमुच जरूरत है, उनके साथ तुम्हें उन जीर्ण-शीर्ण और अनुपयुक्त वस्त्रों की पहनने की क्या आवश्यकता ? क्या इसलिए वे उपयोगी हैं क्योंकि वे तुम्हारे पूर्वजों के हैं, अथवा इसलिए कि वे प्राचीन संसार के स्मृति में तुम्हें प्राप्त हुए हैं । जो दोष मनुष्य और राष्ट्रों को दिवालिया बनाता है, वह यह है कि लोग अपने लाभकारी मुख्य ध्येय को छोड़कर, इतर दिशाओं में काम करने को तैयार हो जाते हैं । दृढ़-संकल्पी और बुद्धिमान मनुष्य ऐसे व्यर्थ के कामों में नहीं उलझता ।

यज्ञ का अर्थ है देवताओं को भेट करना । अब प्रश्न यह है कि वेदान्ती (और कभी-कभी वैदिक) परिभाषा में, देव शब्द का अर्थ क्या है ? देव का अर्थ है प्रकाश और जीवनदायिनी शक्ति । इसी भाँति बहुवचन में, देवता शब्द का अर्थ है, उस ईश्वरीय शक्ति के विभिन्न प्रादुर्भाव, जो या तो अधिदैविक शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं या आध्यात्मिक शक्तियों के रूप में । फिर देवता उस समष्टिरूप शक्ति को कहते हैं, जो अधिदैविक और आध्यात्मिक दोनों लोकों में पाई जाती है । 'चक्षु' शब्द एक व्यक्ति की दृष्टि का नाम है । परन्तु चक्षु इन्द्रिय के देवता का अर्थ है, सब प्राणियों में देखने की शक्ति, और उसका नाम है, आदित्य । उसका बाह्य प्रतीक विश्व-नेत्र तेजोमय सूर्य के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । हाथ की इन्द्रिय का अर्थ एक मनुष्य के हाथ की शक्ति, परन्तु हस्तेन्द्रिय के देवता से तात्पर्य है सब हाथों को हिलानेवाली शक्ति । समष्टिरूप

से इस शक्ति का नाम 'इन्द्र' है । इसी प्रकार जब कभी हम किसी इन्द्रिय के देवता के विषय में बात करते हैं तब, यदि उसका कोई अर्थ हो सकता है तो, केवल यही, जो कि ऊपर दर्शाया गया है ।

अब यज्ञ में देवताओं के प्रति वलिदान करने का युक्तिसिद्ध अर्थ क्या हो सकता है ? इसका अर्थ यह है, कि हम अपनी व्यक्तिगत शक्ति को तद्विषयक समष्टि शक्ति के अर्पण कर दें, जिससे मेरी छोटी आत्मा उस सर्वव्यापी आत्मा के साथ तदात्म हो जाय । मैं अपने पड़ोसियों तथा सबको ही अपना ही रूप अनुभव करूं और अपनी इच्छा को ईश्वरीय इच्छा में लीन कर दूं । उदाहरणार्थ आदित्य को भेंट चढ़ाने का तात्पर्य यह है कि हमारा यह दृढ़ संकल्प और निश्चय हो जाय, कि हम अपने अयोग्य व्यवहार से किसी भी आँख को क्लेश न पहुंचायेंगे । जो भी हमारी ओर देखें, उनकी ओर प्रेम, प्रसन्नता और शुभेच्छाओं को ही हम भेंट चढ़ाया करें, जिससे सभी नेत्रों में ईश्वर के दर्शन होने लगें । यही आदित्य के प्रति भेंट चढ़ाना है ।

इन्द्र को भेंट चढ़ाने का अर्थ यह है कि, देश के सारे हाथों के उपकारार्थ, श्रम किया जाय । प्रत्येक व्यक्ति अपने आहार को, ठीक रीति से, ग्रहण करके ही, पोषित होता है । हाथ और उसके स्नायु काम करने ही से पुष्ट होते और बढ़ते हैं । इस प्रकार, इन्द्र को हव्य दान देने से यह तात्पर्य है कि, भारतवर्ष की क्षुधा मिटा दी जाय और लाखों गरीब आदमी, जो यहां बेरोजगार हैं, उनके लिए जीविका ढूंढी जाय और उन्हें किसी धन्धे में लगा दिया जाय । हाँ, इन्द्र को, जब इस प्रकार का हव्य मिल जायगा, तो देश भर में समृद्धि छा जायगी । जिस समय सारे हाथ काम में लग जायेंगे, तब दरिद्रता बेचारी कहाँ रह सकती है ? इंग्लैंड में फसल बहुत कम होती है,

फिर भी देश धनधान्यपूर्ण है। इसका कारण यह है कि हस्त देवता (इन्द्र) को वहां कला-कौशल और उद्योग-धन्धों के अन्न से इतना तृप्त कर दिया जाता है कि उसे अजीर्ण तक होने लगा है। सब हाथों को मिलाजुलाकर, सबके हित के लिए काम में लगाना ही इन्द्रयज्ञ है। विश्व के हित में सब मस्तिष्कों का मिल जाना ही, बृहस्पति यज्ञ है। हृदय के देवता चन्द्रमा का यज्ञ यह है, कि हम सब अपने हृदय को एक कर लें। इसी प्रकार अन्य देवताओं के लिए भी यज्ञ किये जाने चाहिये।

संक्षेप में यज्ञ का अर्थ है कि अपने हाथों को सारे हाथों के प्रति, सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अर्पण कर देना, अपने नेत्रों को सब नेत्रों के लिए अथवा सारे समाज के लिए समर्पण करना, अपने मन को सब मनो के प्रति भेंट करना, अपने हित को देश के हित में लीन करना, और सबको ऐसे भान करना कि मानों वे सब मेरा ही स्वरूप (आत्मा) हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है 'तत्त्वमसि' (वह है तू) को व्यवहार में लाना और अनुभव करना। जैसे शूली पर चढ़ाने के पश्चात्, ईसा के दिव्य रूप का पुनरुत्थान हुआ था, उसी प्रकार देहात्म भाव के नाश के पश्चात्, विश्वात्मरूप की अनुभूति होती है। यही वेदान्त है अथवा यही दिव्य ज्ञान है।

Take my life and let it be

Consecrated, Lord, to Thee.

Take my heart and let it be

Full saturated, Love, with Thee.

Take my eyes and let them be

Intoxicated, God with Thee.

Take my hands and let them be

For ever sweating, Truth, for Thee.

प्राण, महा प्रभु ! स्वीकृत कीजे, निज पद अर्पित होने दीजे ।
 अन्तःकरण, नाथ ! लै लीजे, निज से उसे प्रेम भर दीजे ।
 स्वीकृत कीजे नेत्र हमारे, निज से मतवाले कर प्यारे ।
 लीजे सत - प्रभु ! हाथ हमारे, सदा करें श्रम हेतु तुम्हारे ।

(इस कविता में 'प्रभु' शब्द से तात्पर्य आकाश में बैठे बादलों में जाड़े के मारे सिकुड़नेवाले किसी अदृश्य हौवा से नहीं है) ।

'प्रभु' का अर्थ है पूर्ण अर्थात् समस्त मानव जाति ।

यह यज्ञ प्रत्येक मनुष्य को करना होगा । और यही हमारा सार्वभौमिक धर्म होना चाहिए । भारतवर्ष कान खोलकर सुन ! इसे स्वीकार कर, नहीं तो तेरा अन्त है । इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं । ऐसा किये बिना जीवन सफल नहीं हो सकता ?

राम तुम्हें बताता है कि तुम्हारे शास्त्रों में जो यह लिखा है कि यज्ञ के समय देवता प्रत्यक्ष मूर्तिमान् हो जाते हैं, यह बात अक्षरशः ठीक है । परन्तु इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि सामुदायिक एकाग्रता में बड़ा भारी प्रभाव है । मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों से यह सिद्ध हुआ है कि एकाग्रता का प्रभाव, किसी अवसर पर एक स्थान पर उपस्थित, एक-हृदय व्यक्तियों की संख्या के वर्ग के अनुपात में बढ़ता है । यही सत्संग की महिमा है । यदि अकेला राम किसी कल्पना को मूर्तिमान् कर सकता है, तो एक-हृदय लाखों लोग एक ही मंत्र को जपने वाले, एक ही स्वरूप का ध्यान करने वाले, कैसे उस कल्पना को मूर्तिमान् किए बिना रह सकते हैं ?

परन्तु इससे क्या सिद्ध होता है ? इससे सिद्ध होता है कि तुम्हारा सर्वमय-आत्मा ही सब देवताओं का पिता और कर्ता धर्ता है । परन्तु यही देवता, जो तुम्हारे मन की कल्पना मात्र है, तुम्हारे दिखावटी मिथ्या, परिच्छिन्न और एक-देशीय शुद्ध अहं पर शासन करते हैं ।

तुम स्वयं अपने भाग्य के कर्ता हो । चाहे धूल और गर्द में पड़े हुए नीचे दास बने रहो, चाहे अपने जन्म-सिद्ध अधिकार से वैभव का मुकुट धारण करो । जो अच्छा लगे, वही करो। बोलो, तुम्हें क्या पसन्द है ?

राम मनोविज्ञान की दृष्टि से यह भी जानता है कि, ठीक-ठीक प्रतीकों और संकेतों के द्वारा, किसी विचार या कल्पना को मन में जमाने से कैसा अपूर्व फल होता है । जो मनुष्य पूर्ण निश्चय के साथ, आत्मसमर्पण में लवलीन है, मानों वह पाणिग्रहण में अपने हाथों को विश्व-पती के हाथों सौंप रहा है । ऐसा मनुष्य, जब उसका मन अनन्य भक्ति से गदगद् हो रहा हो, जब उसका सारा शरीर इस पवित्र संकल्प से रोमांचित हो रहा हो, तब यदि बाह्यरूप से भी वह अग्नि में हवि डाले, कि उसकी अल्पात्मा विश्वात्मा के प्रति उत्सर्ग हो जाय और, मंत्रों को उच्चारण करते हुए, अपने आन्तरिक संकल्प को उच्च स्वर में 'स्वाहा' शब्द से अभिव्यक्त करे, तो इन प्रतीकों के द्वारा उसका पवित्र कार्य अमिट और अटल हो जायगा । इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं । परन्तु हाय रे दुर्देव ! यहां तो केवल प्रतीक ही प्रतीक है । उत्सर्ग और त्याग की भावना का नामोनिशान तक नहीं, फिर उस ढोंग से क्या आशा की जा सकती है ? जहां विचार और भावना का बिलकुल अभाव हो और बलात् अर्थ-शून्य आडम्बर हमारे गले मड़ा जाता हो, वहां तो केवल शरीर है, प्राण नहीं । वह तो बिलकुल निर्जीव देह है । इस निर्जीव शव को तुरन्त जला डालो, उसकी सेवा-सुश्रूषा से क्या लाभ ? इस प्रकार का यज्ञ तो उलटा हानिकारक और घातक होगा । अब उसे छोड़ कर, सजीव और नूतन विधियों को क्यों न स्वीकार कीजिये ?

लोग कहते हैं कि नदी को अपने पुराने पाट में बहने में आसानी होती है, इस लिए हमें भी प्राचीन संस्थाओं में नवीन जीवन डालने

का प्रयत्न करना चाहिए । राम कहता है कि यह बात प्रकृति के विरुद्ध है । एक भी ऐसी नदी का नाम बताओ, जो एक बार अपना पुराना मार्ग छोड़ कर, फिर उसी पुराने मार्ग से बहने लगी हो ? एक भी ऐसा उदाहरण बताओ, जहां शरीर का प्राण निकल जाने पर भी, नवीन प्राण ने फिर उस में प्रवेश किया हो ? पुरानी बोटलों में नई मदिरा भरने से काम नहीं चलेगा । जिस गन्ने का एक बार रस निकल गया, उस में फिर से रस नहीं आ सकता । उसे जला देना चाहिए । पदार्थों तथा उन के परस्पर सम्बन्ध सदैव बदलते रहते हैं । जिस रूप-रंग या सम्बन्ध को उन्होंने एक बार त्याग दिया, उसे वे फिर नहीं ग्रहण करते । आओ, हम इन यज्ञ की आहुतियों को ही इस ज्ञानाग्नि में आहुति कर दें । हम तो यज्ञ के सच्चे भावार्थ को ही अपने देश-कालानुसार रीति-रिवाजों में बरतेंगे । कुछ लोग ऐसे हैं, जिन को सदैव प्राचीन वैभव का स्मरण करते रहना ही, देश-भक्ति लगती है । नवीन स्थितियों में, इन की तुलना उन घोंघों से की जा सकती है, जो अपने पुराने घर को पीठ पर लादे फिरते हैं । अथवा ये ऐसे दिवालिये महाजन हैं, जो बैठे-बैठे अपने पुराने रद्दी वहीखातों के ही पन्ने रात-दिन लौटा-पौटा करते हैं । इस विचार में समय मत गंवाओ कि भारतवर्ष पहले कितना बड़ा-चढ़ा था । अपनी सारी अनन्त शक्ति एकत्रित करो, और ऐसा भाव मन में धारण करो कि भारतवर्ष अब फिर कैसे उन्नति करेगा ।

इतिहास और व्यक्तिगत निरीक्षणों से यह सिद्ध होता है कि जब लोग एक जगह एकत्रित होते हैं और उन की आंखें और हाथ परस्पर मिलते हैं, उस समय उन के अन्तःकरणों के भी एक होने का अनुपम प्रसंग उपस्थित होता है । ज्ञाततः अथवा अज्ञाततः, एक दूसरे के विचारी और भावनाओं का आदान-प्रदान होने लगता

है, लोगों की भावनाओं में एक ही उत्ताप, उन के विचारों में एक सी भूमिका, उनकी अध्यात्म-वृत्ति में एक ही शक्ति का सृजन होने लगता है। इस से पारस्परिक प्रेम और ऐक्यता उत्पन्न होती है। हज़रत मुहम्मद साहब की बुद्धिमानी तो इसी से प्रत्यक्ष है, कि उन्होंने उद्ण्ड और लड़ाकू अरबों को प्रतिदिन एक साथ ईश्वर के सम्मुख, कम से कम पांच बार, उपस्थित होने के लिए बाध्य कर दिया। इस रीति से उन्होंने, बिखरे हुए लोगों में से, एक संगठित राष्ट्र का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की।

यज्ञ, तीर्थ, मेले, मंदिर, न्यायालय, मठ, भोजनालय, विवाहोत्सव, स्मशान-यात्रा, सभा, सामाजिक वार्षिकोत्सव तथा आज-कल के सम्मेलन और राष्ट्रीय सभाओं के जलसे, ये सब भारतवर्ष में लोगों के एकत्रित होने के सुअवसर हैं। इसी प्रकार पश्चिम में गिरजाघर, होटल, प्रदर्शनी, पर्यटन, विश्वविद्यालय, सार्वजनिक व्याख्यान, क्लब और राजनैतिक सम्मेलन इत्यादि साधारणतः लोगों के एकत्र होने के अवसर हैं। परन्तु विशेषतः ऐक्यता-वर्द्धक शक्ति उन जमघटों में होती है, जिन में हम सात्विक भाव से मिलते हैं और जहां हम ऐक्यता के वृक्ष को प्रेम के पवित्र जल से सींचते हैं और दृढ़ करते हैं। चिरस्थायी ऐक्यता वहीं उत्पन्न हो सकती है, जहां अन्तःकरण एक होते हैं। केवल शरीरों के मेल से कोई उत्साहजनक परिणाम नहीं उत्पन्न होता, वरन् कभी-कभी इस से उलटे ईर्ष्या, वैमनस्य आदि का जन्म होता है। खींच-खींच कर के केवल बाहरी ऐक्यता पैदा करने की कोई आवश्यकता नहीं। जहां अन्तःकरण की ऐक्यता नहीं होती, वहां की मैत्री उन स्फोटक पदार्थों के मिश्रण से अधिक भयंकर होती है, जो एकत्र होते ही धड़ाम से फट जाते हैं। केवल पैरों के बल चल कर एकत्र होने से, दो हृदय एक दूसरे

के समीप नहीं आते । हमें इस बात की चिन्ता और आवश्यकता न होनी चाहिए, कि हमारे मित्रगण और अनुयायी सदा हमारे पास ही रहें, वरन् जीवन के मूल स्रोत और उत्पत्ति के स्थान से अर्थात् ईश्वर से हम सब जितनी ही अधिक सान्निध्य प्राप्त करेंगे, उतनी ही अधिक स्वतः अपने पास मित्र पाने की संभावना बढ़ती जायगी । बेंत का वृक्ष पानी के समीप रहता है और अपनी जड़ें उस तरफ फैला देता है जहां बहुत से पेड़ आप ही आप पैदा होते हैं । इसी प्रकार हमें भी उसी अनादि चैतन्यमय मूल स्रोत को अपना आधार बनाना चाहिए । फिर हमारे स्वभाव के अनुरूप बहुत से बेंत रूपी मित्र अपने आप हमारे पास जमा हो जाएंगे । सब से पहले आवश्यकता केवल इस बात की है, कि तुम सत्य स्रोत परमात्मा का आश्रय लो ।

फिर देखो, दूरबीन के शीशे मिलकर तभी ठीक ठीक काम कर सकते हैं, कि जब उनका किरणकेन्द्रान्तर (focal length) भी ठीक बैठा हुआ हो । सौर मण्डल एक सामंजस्यपूर्ण इकाई है, क्योंकि उस के विभिन्न ग्रह एक आनुपातिक दूरी में चलते हैं । हमारे कुछ मित्र ऐसे होते हैं कि यदि उन के साथ हमारी घनिष्टता कुछ बढ़ जाय या कम हो जाय तो हम उन के साथ काम नहीं कर सकते । मित्र मण्डली में प्रेमपूर्ण और स्थायी ऐक्यता प्राप्त करने के लिए, यह परम आवश्यक है कि परास्परिक आध्यात्मिक अन्तर एक समुचित अनुपात से रक्खा जाय । कभी कभी ऐसा होता है कि लोग या तो बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध करने या फिर बिलकुल ही अलग हो जाने की भूल करतें हैं । वे प्रत्येक मनुष्य पर अविश्वास और शंका करने लगते हैं । प्रेम, मेल और एकता, उसी समय प्राप्त और स्थिर की जा सकती है, जब लोगों की दूरी में यथोचित अन्तर रक्खा जाय ।

राष्ट्रीय उत्सवों में ऐसा सुधार करना चाहिए, जिस से सभी श्रेणी के लोगों को एक साथ एकत्रित होने का अवसर मिले, जिस से वे, आध्यात्मिक अथवा मानसिक समानशीलता के अनुसार, अपने सधर्मी ढूंढ कर उन से एकता प्राप्त कर सकें और इस रीति से, प्राकृतिक नियमों के अनुसार, अपने पारस्परिक सम्बन्धों की दूरी स्थापित कर सकें। राष्ट्रीय हेमन्तोत्सव, दक्षिण भारत के सुखदायक प्रदेशों में, राष्ट्रीय ग्रीष्मोत्सव उत्तरी पर्वतों के प्राकृतिक दृश्यों में, वसन्तोत्सव बंग देश में, और शरद् ऋतु का सम्मेलन पश्चिमीय हिन्दुस्तान में होना चाहिए। ये उत्सव, किसी नाम विशेष व सम्प्रदाय विशेष की सीमा से ऊपर, सर्वथा राष्ट्रीय होना चाहिए, जो सभी श्रेणियों के प्रतिनिधियों की समितियों द्वारा संचालित हों। वहां पर कलाकौशल की प्रदर्शनी, हर प्रकार की दुकानें, पदार्थ-संग्रहालय, पुस्तकालय, प्रयोग-शालायें, क्रीड-भवन, व्याख्यानों के लिए मैदान, सामाजिक सभायें, परिषदें, कांग्रेस और फिर अन्त में, किन्तु महत्वपूर्ण, राष्ट्रीय नाट्यशालायें हों, जिन में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अनेकानेक धर्म और पंथ के लोग एकत्रित हों, और इस प्रकार जीवन के गम्भीर और विनोद प्रिय दोनों अंगों की पूर्ति की सामग्री जुटायी जाय। और वहां है, प्राचीन भारत की प्रथा के अनुसार, भगिनी अपने भाई के साथ, पत्नी अपने पति के साथ और पुत्र अपनी माताओं का हाथ पकड़े हुए, इधर-उधर टहलते दिखाई दें, जैसा कि वर्तमान समय में बम्बई में रिवाज है। इस के साथ ही साथ यह भी हो, कि सब श्रेणी के, सब पंथों के और सब धर्मों के वक्तृताओं को प्रेममयी वक्तृता देने के लिए एक सामान्य सर्वमान्य व्यासगद्दी हो।

राष्ट्रीय एकता की वृद्धि में एक दूसरा साधन है, राष्ट्रीय

साहित्य का उत्पादन, उसकी उन्नति और उस की परिष्कृति, यह कार्य देश की वर्तमान जीवित देशी भाषाओं में एकता पैदा करके ही हो सकता है ।

इसी उद्देश्य से भिन्न-भिन्न स्थानों पर ॐ 'मन्दिर' भी स्थापित किये जा सकते हैं । वहां सभी धर्मों के लोग स्वतन्त्रता से आ जा सकें, पढ़ें, ध्यान करें, शान्ति से प्रार्थना करें, और एक दूसरे को सहानुभूति, दया और प्रेम की दृष्टि से देखें, परन्तु आपस में बात-चीत के बिना ही ।

वहां देश के युवक इकट्ठे होकर, खुले मैदान में व्यायाम करें और राम की रीति से प्रत्येक शारीरिक गति को एक आध्यात्मिक भावनासूचक चिन्ह में बदल दें, जिस से वह क्रिया, ईश्वर-निमित्त और ईश्वर को स्वीकार्य, यज्ञ में आहुतिरूप हो जाय ।

स्नान करते समय हमें उपयोगी और हृदय को पवित्र करने-वाले गीत गाना चाहिए, पर वे ऐसी भाषा में न हों जिसे हम समझ ही न सकें ।

ऋतु के अनुसार तरुण-मण्डली नदियों के किनारे, हरी घास पर, अथवा वृक्षों की छाया में, आकाशमंडल के नीचे एक साथ बैठ कर भोजन करें । और प्रत्येक घास के भीतर और बाहर से अर्थात् मन और वचन से ॐ ॐ का उच्चारण करती रहे । राष्ट्रीय गीत, ज्वालामय शब्दों एवं सजीव विचारों से भरे हुए सामूहिक गान, एकता उत्पन्न करने में जादू का काम करते हैं ।

हवन के लिए कृत्रिम अग्नि प्रज्वलित करने की अपेक्षा, सात्विक युवकों को चाहिए कि प्रभात काल अथवा सायंकालीन सूर्य विम्ब के तेज में अपने कलेुपित, कुछ अहंकार को बलि चढ़ा दें ।

Disciple ! up, untiring hasten,
To bathe thy breast in morning red.

उठो उठो हे शिष्य ! सकल आलस तज दीजे ।
प्रातः लालिमा मध्य, उरस्थल मज्जन कीजे ॥

(नारायण प्रसाद)

उस तेज के सागर में डुबकी मारो और तेजपुञ्ज बनकर बाहर निकलो, और फिर अपने दिव्य प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को नहला दो । इसी का नाम हवन है ।

लोगों में, विशेष करके स्त्रियों और बालकों में (और इसलिए भावी सन्तान में), प्रेम और एकता उत्पन्न करने का एक उत्तम उपाय है, नगरकीर्तन अर्थात् गायन और नृत्य करते हुए, अथवा सुरुचिपूर्ण तमाशे दिखाते हुए, रास्ते से निकलना और निर्भय होकर सत्य की जय-जयकार मनाना ।

सत्य के कारण, देश के किसी नेता पर निर्दयतापूर्ण अत्याचार का होना अथवा किसी धर्मवीर का प्राण लिया जाना, सारे देश में एकता उत्पन्न करने में अचूक काम करता है । पर यह जीते जी की मृत्यु ही नहीं, वरन् स्वार्थहीनता पूर्ण मरणतुल्य जीवन की एक ऐसी शक्ति है, जो न केवल एक ही राष्ट्र को, वरन् अन्त में समस्त राष्ट्रों को मिला सकती है । यदि एक ही व्यक्ति ईश्वर में वास करने लगे, अर्थात् सब को अपना आप समझने लग जाय, तो सम्पूर्ण राष्ट्र उस के द्वारा एकता प्राप्त कर सकता है ।

जहाँ पर यौवन सम्पत्तों को प्रौढ़ी शिक्षा दी जाय, वहाँ उन के हृदय में धैर्य, सत्य, अहिंसा और स्वार्थत्याग की भावना के सद्गुणों का अंकुर भी जमाना परम आवश्यक है ।

स्त्रियों, बालकों और मजदूरों की शिक्षा की उपेक्षा करना, मानों उसी शाखा को काटना है, जिस पर हम बैठे हैं। नहीं, नहीं, यह तो समूची राष्ट्रीयता के वृक्ष की जड़ पर ही कुठाराघात करना है।

ऋषियों के बीसवीं शताब्दी के वंशजो ! यदि तुम श्रुतियों के उपदेशों को ठीक-ठीक समझते हो, तो तुम्हें, स्मृतियों द्वारा निर्धारित, जाति-पांति के संकीर्ण और हानिकारक बन्धनों को अवश्य तोड़ना पड़ेगा। इसके विरुद्ध, यदि तुम सच्ची आत्मा को नहीं पहचानते और श्रुतियों की परवाह भी नहीं करते और बीते हुए जाड़े के गरम कपड़े इस विकट गरमी में भी पहने रहने का आग्रह करते हो, तो अपने पूर्वजों की बुद्धिमत्ता के नाम पर, जरा दयापूर्वक अपनी स्थिति पर विचार तो करो। स्थूल रूप से मनुष्य केवल कालबद्ध ही नहीं है, वरन् देशबद्ध भी है। काल की दृष्टि से तुम हिमालय के ऋषियों के खास वंशज ही क्यों न हो, परन्तु, देश की दृष्टि से, आज तुम विज्ञान और कला-कौशल-विशारद यूरोप और अमेरिका निवासियों के समकालीन होने से भी इन्कार नहीं कर सकते।

एक ओर प्राचीन उपनिषदों के अपने परम्परागत ज्ञान को आत्मसात करो और दूसरी ओर लौकिक जगत् में जापान, यूरोप और अमेरिका के व्यावहारिक विज्ञान को ग्रहण करने और उसे जीवन में धारण करने से ही, इस संसार में इस समय तुम्हारा निर्वाह होगा। बरगद का नन्हा सा पौधा यदि अपने आस-पास के जल, वायु, पृथ्वी और प्रकाश से पालन-पोषण की सामग्री लेने के बदले, अपने प्राचीन कुल की प्रशंसा के ही गीत गाता रहता है, तो शीघ्र ही उसका नाश हो जायगा। राम से यह तो कभी नहीं हो सकता कि वह तुम से अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व को छोड़ने के लिए कहे। परन्तु राम तुमसे

यह अवश्य कहता है, कि तुम्हें, भूत और वर्तमान दोनों को स्वीकार करके, आगे बढ़ना चाहिए । जिस प्रकार कि वे लोग तुम्हारी प्राचीन ब्रह्मविद्या को अपना रहे हैं, उसी तरह तुम्हें भी उनके भौतिक विज्ञान को अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिये ।

इतिहास और अर्थ-विज्ञान से यह स्पष्ट है कि, जिस तरह वृक्ष की वाढ़ उसकी समयानुकूल काट-छांट पर अवलम्बित रहती है, उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति भी समय-समय पर कुछ लोगों के देशान्तर-गमन पर निर्भर है । यदि हम कुछ बेकार और भूखे भारतवासियों को संसार के विरल संख्या वाले देशों को भेज सकें तो वहाँ कमाने खाने से वे जीवित रहेंगे और उन के द्वारा भारतवर्ष दूर-दूर देशों में भी अपनी जड़ें फैला सकेगा, उनमें उसका अड़्डा जम जायगा । इस रीति से भारत की जड़ता का नाश होगा और उसका बोझ भी कम हो जायगा, जिसे ढोने में उसे थकावट भी कम होगी, साथ ही, हवा को विपैली करनेवाली, हानिकारक कार्बन-डाइआक्साइड गैस भी कम पैदा होगी । यदि इस कार्य को तुम अपनी खुशी से करोगे, तब तो मानों तुम ने देवताओं को अपने वश में कर लिया, नहीं तो भगवान् का सुदर्शन चक्र बिना रोक-टोक के चलता ही रहेगा । जो भी उसके रास्ते में आयेगा उसे चकनाचूर होना पड़ेगा । भगवान् तुम्हारा कल्याण करे । यदि तुम अपने को विनाश से नहीं बचाते तो तुम्हारी मर्जी, परन्तु परमेश्वर अपनी सहज दया के वश अवश्य ही प्लेग और दुष्काल द्वारा तुम्हें काट-छांट कर ठीक कर देगा । “जो मनुष्य, अपनी बुद्धि का उपयोग करके, सृष्टि के नियमानुसार चलता है, वह जरूर बच जायगा । जो समझ-बूझ पूर्वक प्राकृतिक वृत्तावली का आश्रय लेता है, अन्त में जीवन-संघर्ष से मुक्त हो जाता है । केवल वही वेदाग बच सकता दूसरा कोई नहीं ।”

यहां कुछ लोगों का कथन यह है कि विचारे निर्धन, बेकार लोग घर से क्यों निकाल दिये जायें ? यह आक्षेप वही लोग करते हैं, जिनका घर सम्बन्धी विचार बहुत ही संकीर्ण होता है । अच्छा, जिस कोठरी में तुम ने जन्म लिया था उससे बाहर ही क्यों निकलते हो ? और घर छोड़कर सड़क पर क्यों आते हो ? तुम केवल पानी और मिट्टी के ही बालक नहीं हो, तुम स्वर्ग के भी प्राणी हो, तुम स्वर्ग के बालक ही नहीं, वरन् साक्षात् स्वर्ग हो, सर्वत्र हो । एक ही स्थान पर अपने को न बाँधो । भारत अपने आप को सारी दुनिया से अलग रखकर एक कोठरी में बन्द नहीं रह सकता । एक समय ऐसा था, जब भारतवर्ष एक अकेला देश था और ईरान दूसरा और मिस्र तीसरा । ये सब अलग अलग देश समझे जाते थे । परन्तु आज भाप, बिजली और विज्ञान की सहायता से देश-काल के बन्धन बिलकुल टूट गये हैं और समुद्र, रुकावट होने के स्थान में, राज-पथ बन गया है । पहले के शहर मानों आज कल की सड़कें हैं, और प्राचीन काल के देश मानो इस समय के शहर बन रहे हैं, जो इस एक छोटे से भूमंडल के टुकड़े पर बसते हैं, जिसे हम संसार कहते हैं । इसी लिए अपने “घर” की कल्पना को विस्तृत करने का यह बड़ा उत्तम समय है । हे प्रकृति और ईश्वर की संतान ! सारे देश तुम्हारे हैं और मनुष्य मात्र तुम्हारे भाई और बहन हैं । जाओ, वहाँ, जहाँ तुम अपने काम का सर्वोत्तम उपयोग कर सको । हिन्दू राष्ट्र के गले में लाखों भिखारियों के बोझल, डूबा देने वाले, पत्थर का भार बढ़ाने से क्या लाभ ? तुम्हें ईश्वर और मानव-जाति की शपथ है ; जाओ, भारत के बाहर जाओ, और वहाँ अपनी वैदिक संस्कृति फैलाओ और भारत को भी उस की बढ़ती हुई जनसंख्या के विनाशकारी परिणाम से बचाओ ।

संभव है, कुछ लोगों को भारत की यातना कम करने का प्रश्न केवल राष्ट्रीय हो, किन्तु राम के लिए तो यह अन्तर्राष्ट्रीय है। उनके लिए यह केवल देश-भक्ति का प्रश्न हो, परन्तु राम के लिए तो यह मनुष्यमात्र का प्रश्न है। मेरे वच्चे मेरी आंखों के सामने मरें अथवा चाहे वे मुझ से दूर रहें, परन्तु जीवित तो रहें। आंखों में प्रेमाश्रु भर कर राम तुम को बाहर जाने पर आशीर्वाद देता है, जाओ, और वहां प्रसन्न तो रहो। प्रणाम।

यहाँ शौक से वापस आ जाना, यदि विदेश में उदर-निर्वाह से अधिक कमाई करने के योग्य हो जाओ, जैसे जापानी युवक पश्चिम के व्यावहारिक विज्ञान को पश्चिम से अपने देश में लाते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने देश में लौट कर विदेश में सीखी हुई विद्या से अपने देश का कल्याण करो। यदि परदेश में तुम अपने उदर निर्वाह से अधिक कमाई नहीं कर सकते, तो वहीं रहो। और यदि तुम भारतमाता के दुःख-भरे वक्षस्थल पर निरुद्योगी जोंक बन कर रहना चाहते हो, तो इस से यही अच्छा है कि तुम, भारतवर्ष में पुनः पैर रखने की अपेक्षा, अरेबियन समुद्र में एक दम कूद पड़ो और वहीं अरेबियन समुद्र का आतिथ्य ग्रहण करते रहो। घर का प्रेम, और सच्ची देश भक्ति तुम से ऐसा ही आग्रह करती है।

राम के हृदय में जितना प्यार मनुष्यों के लिए है, उतना ही इतर प्राणियों के लिए, पत्थरों के लिए भी। राम के लिए तो बन्दर उतने ही प्रिय हैं जितने कि देवता। परन्तु तथ्य तो तथ्य ही हैं, और लानत है उस पर जो झूठ बोलता हो। बड़ी कठिनाई से आयरलैन्ड निवासियों को जौल्लबुल (अंग्रेज) के चंगुल से थोड़ा सा छुटकारा मिला, और वह इसी रीति से मिला कि विचारे निर्धन आयरलैन्ड निवासी हर साल हजारों की संख्या में अमेरिका में प्रवेश करने लगे।

राम की यह इच्छा भी नहीं कि भारतवर्ष के आलसी मनुष्यों से प्यारे अमेरिका और अन्य देशों को भर दिया जाय । वस्तुस्थिति यह है, कि तुम्हारे विदेश-गमन से तुम्हारे स्वास्थ्य में भी वृद्धि होगी । जो वृक्ष एक ही जगह सटकर उगते हैं, वे बहुत ही क्षीण और दुर्बल होते हैं । यदि उन वृक्षों में से एक पेड़ को उखाड़ कर किसी अन्य स्थान पर लगा दिया जाय, तो वह एक महा प्रचण्ड वृक्ष बन जायगा । यदि तुम विदेश में जाते हो, तो तुम उस भूमि में फल-फूल कर वहाँ के भूषण बन कर रह सकते हो । अमेरिका के वर्तमान धनाढ्य लोगों की स्थिति भी पहले ऐसी ही थी, उन में से अधिकतर, विचारे गरीबी के कारण, यूरोप से भाग कर वहाँ बसे थे । सब राष्ट्रों का इतिहास पहले ही से यह सिद्ध करता है, कि देशान्तर गमन से लोगों की सामाजिक अवस्था सुधर जाती है ।

यज्ञ के सम्बन्ध में एक दो बातें और कहना है । कभी कभी यज्ञ और हवन “त्याग” के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । परन्तु त्याग ऐसे पवित्र शब्द को क्रियाहीन, लाचारी और निराशाजनक कमजोरी मानना भूल होगा । यह दर्पपूर्ण वैराग्य-वृत्ति भी नहीं है । ईश्वर के पवित्र मंदिर अर्थात् मानवी देह को, बिना प्रतिकार, चुपचाप कृर मांसभक्षक भेड़ियों को सौंप देना त्याग नहीं कहला सकता । अपने आप को अन्याय, अत्याचार और घोर पाप का शिकार बनाने का तुमको क्या अधिकार ? यदि कोई स्त्री किसी कामुकता के गुलाम को अपना पवित्र तन अर्पण कर दे, तो क्या यह त्याग कहा जा सकता है ? कदापि नहीं । ‘त्याग’ का अर्थ है अपना सर्वस्व सत्य के अर्पण करना । यह शरीर, यह सारी सम्पत्ति ईश्वर की है । तुम इस पवित्र धरोहर को पाप और अन्याय के हवाले कैसे कर सकते हो ? अपने को सत्य से भिन्न और पृथक समझना और तब धर्म के नाम पर

त्याग करना, मानो उस वस्तु को अपना है, जो अपनी नहीं है । यह तो अमानत में खयानत है । जो वस्तु अपनी नहीं है, क्या उसका दान करना पाप नहीं है ? तुम सत्यरूपी जगमगाते हुए सूर्य होकर चमको । असत्य अर्थात् अज्ञान को त्याग कर सत्य स्वरूप बन जाओ । केवल यही धर्म-संगत 'त्याग' है । जरा ठहरो, त्याग तो ईश्वरीय वैभव प्राप्त करना है । निस्संदेह ईश्वरत्व और त्याग पर्यायवाची शब्द हैं । संस्कृत और आचरण तो केवल उसके बाहरी चिन्ह हैं ।

जो कर्मकाण्ड मलिन अहंकार से जन्मता है, वह वैदिककाल में भी मुक्तिदाता नहीं माना जाता था । मुक्ति तो सदा केवल ज्ञान ही से प्राप्त हो सकती है । इसलिए आजकल का कोई भी कर्म-काण्ड, जिसमें कर्तव्य की भाग-दौड़ हो, जिसमें सभ्य और परिष्कृत रूप में स्वार्थों की गुलामी हो, हमें पाप और ताप से मुक्ति नहीं दे सकता । चाहे हम पृथ्वी की सारी सम्पत्ति जमा कर लें, परन्तु, जब तक हम अपनी आत्मा को सबकी आत्मा न समझेंगे, तब तक शान्ति कदापि नहीं मिल सकती । संसार के सारे परिवर्तनों और सारी परिस्थितियों के भीतर केवल एक ही उद्देश्य उपस्थित है, और वह है, आत्मानुभव । सचमुच, जब तक मनुष्य का जीवन कृत्रिमता, दिखावट और बाहरी रूप-रंग पर टिका रहता है, तब तक प्रत्येक नया परिवर्तन और सुधार केवल एक कूड़े करकट की नवीन तह जैसी रहता है, जिससे नीचे का आधार तो बिल्कुल दिखाई ही नहीं देता । जब तक, अपने सम्पूर्ण स्वरूप का भान करके, पूर्ण आरोग्यता अनुभव नहीं की जाती, तब तक सभ्यता का यह सारा दिखावा केवल वेदनापूर्ण देहाभिमान के सृजे हुए घाव को ढांकनेवाली रेशमी पट्टी जैसा है । यह ज्ञान, अर्थात् वेदों का ज्ञान-काण्ड, ही सच्चा

वेद है । हिन्दू धर्म के षट्दर्शनाचार्यों और बौद्ध-जैन ग्रन्थकारों ने भी इसी को, श्रुति का नाम दिया है । प्यारे हिन्दुओं ! इसी श्रुति का आश्रय लो । वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुसार, स्मृति और कर्म-काण्ड को बदल डालो । इससे न केवल यह होगा, कि तुम अपने हिन्दूपन के अस्तित्व को बनाये रख सकोगे, वरंच अपनी व्याप्ति और वृद्धि करके, सम्पूर्ण जगत् के सच्चे गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक बन जाओगे । इसी रीति से तुमसे सबको व सबको तुमसे दूर करने वाली छुद्रता और निष्क्रियता दूर हो जायगी और सबको अपने में मिलाने वाली स्वच्छ नूतनता समा जायगी ।

आत्मज्ञान के बिना, कार्य करनेवाले मनुष्य की अवस्था अंधेरी कोठरी में काम करनेवाले मनुष्य की सी होती है । कभी दीवाल से सिर टकराता है, कभी टेबिल से घुटने फूटते हैं, कभी कुर्सी की ठोकें और चोटें खानी पड़ती हैं । जो मनुष्य प्रकाश में कार्य करता है, उसे ऐसा संघर्ष नहीं उठाना पड़ता । ज्ञान-शून्य और ज्ञानवान् मनुष्य के कार्य में यही इतना अन्तर है, कि ज्ञान-शून्य मनुष्य तो घोड़े की पूंछ पकड़कर यात्रा करता है और रास्ते भर लातें खाता है, और ज्ञानी आनन्द और सुगमता से घोड़े की पीठ पर बैठा हुआ चला जाता है । आत्मज्ञानी को कोई भी काम, काम का बोझ प्रतीत नहीं होता । दुर्घट से दुर्घट और महान् से महान् कार्य, स्थितप्रज्ञ ऐसे कर डालता है, जैसे ग्रीष्म ऋतु का पवन फूलों की सुगंध इधर-उधर बिखेर देता है । श्रीशंकराचार्य का कथन है कि आत्मज्ञानी मनुष्य कोई कर्म नहीं करता । हां, बेशक उसकी अपनी दृष्टि से ऐसा ही है । क्योंकि ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो उसे कष्टदायक मालूम हो सके । उसे तो सब काम लीला, क्रीडा और आनन्द ही प्रतीत होता है । उसके लिए कोई अवश्यकरणीय कर्तव्य नहीं, न वह कभी चिन्ता करता

है और न कभी व्याकुल होता है । वह तो अपनी स्थिति का राजा है । उसे तो सब कुछ किया हुआ सा दिखलाई देता है । न उसे उद्वेग होता है और न दुःख (शोक) । वह तो चिर, नूतन, धीर और अचल रहता है । वह तो करने-धरने के ताप से सर्वथा मुक्त रहता है ।

परन्तु क्या ऐसा ज्ञानी, आलसी और सुस्त होता है ? वैसे तो तुम प्रकृति को सुस्त और सूर्य को भी आलसी कह सकते हो । नैष्कर्म के अद्भुत आचार्य स्वयं शंकराचार्य को देखो । क्या तुम इतिहास के विस्तृत क्षेत्र में से भी ऐसा उदाहरण ढूँढ सकते हो, जहाँ इतने अल्प काल में किसी एक व्यक्ति के द्वारा इतना अधिक काम हुआ हो ? सैकड़ों ग्रन्थ रच डाले, अनेकों संस्थायें स्थापित कर दीं, बहुत से राजाओं को अनुयायी बना लिया, सारे भारतखण्ड में एक छोर से दूसरे छोर तक अनेकों महासभायें कर डालीं । उनके द्वारा कार्य का प्रचार, उसी तरह आसानी से स्वतः होता था, जैसा तारागणों से प्रकाश फैलता है अथवा फूलों से सुगंध उड़ती है ।

राम अब उस महान् ब्रह्मयज्ञ के बारे में कुछ कहे बिना इस विषय को समाप्त नहीं कर सकता । मनु के शब्दों में ऐसे आत्म-यज्ञी को स्वराज्य प्राप्त होता है, जो आन्तरिक प्रतिभा का निजी सिंहासन है । ज्ञान की ज्वाला दहक रही है, उसके लिए भेंट चढ़ाना है—चढ़ा दो उस पर अपना सारा मेरा-तेरा, अपनी आसक्तियाँ, आकांक्षायें, प्रेम और घृणा, मेरे और तेरे की कल्पना, राग-द्वेष, मनो-विकार, रूष्टि तुष्टि, रीति, शिष्टाचार, नातेदार-रिश्तेदार, नातेगोते, लेन-देन, न्याय-अन्याय, प्रश्न-उत्तर, नाम-रूप, अधिकार, मोह, सब ज्ञानाग्नि में हवन कर दो । ब्रह्मज्ञान की आग में धूपदीप बनाकर इन्हें चढ़ा दो, भेंट कर दो, बलिदान कर दो और लूटो, इस पूर्ण उत्सर्ग की मधुर सुगन्ध का मजा लूटो, जबकि तत्त्वमसि के

प्रज्वलित कुंड से चारो ओर उड़ने लगे—तू उससे अलग नहीं है, तू उससे एक है, अर्थात् तू तो वही है, तू तो वही है ।

अपने ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करो और मोह और दौर्बल्य से ऊपर उठो । आत्मनिष्ठ ज्ञानी को रास्ता देने के लिए सारा संसार एक ओर हट जाता है । या तो तुम अजय के प्रभु बनो, नहीं तो जगत् तुम्हारे ऊपर प्रभुत्व जमा लेगा । संशयी और अन्धविश्वासी के लिए कभी कहीं कोई आशा नहीं । शपथ केवल वही खाते हैं जो अपने स्वरूप का निश्चय नहीं करते । ओ हो ! क्या तुम्हें अपने ब्रह्मत्व के विषय में कुछ संशय है ? ऐसे संशय की अपेक्षा तुम अपने हृदय में बन्दूक की गोली क्यों नहीं मार लेते ? क्या तुम्हारा मन तुम्हें धोखा देता है ? उसे उखाड़ डालो और निकालकर फेंक दो । निर्भयता से, प्रसन्नचित्त होकर सत्य के सागर में प्रवेश करके, मिश्री की डली की तरह, उसमें घुलकर उससे एक हो जाओ । सच्चमुच डरते और घबराते हो क्या ?

Art thou afraid ?

Of God ? Nonsense;

Of man ? Cowardice;

Of the Elements ? Dare them;

Of yourself ? Know Thyself.

Say 'I am God' (Rama Truth)

क्या डरते हो ? किससे डरते हो ?

परमेश्वर से ? यह मूर्खता है ।

क्या मनुष्य से ? यह कायरता है ।

क्या पंचभूतों से ? उनका सामना करो ।

क्या अपने आप से ? जानो अपने आपको ।

कहो "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ ।

मुद्रक : लखनऊ पब्लिशिंग हाउस लखनऊ

प्राप्ति स्थान

स्वामी रामतीर्थ मठ

CC-0. Omkareshwar Shri Ram Temple Collection, Jabalpur. Digitized by eGangotri

1/E16, स्वामी रामतीर्थ नगर, नई दिल्ली-55 दूरभाष : 528302